राजकीय कला एवं शिल्प महाविद्यालय लखनऊ

वार्षिक

१९६८



वार्षिक, १९६८

राजकीय कला एवं शिल्प महाविद्यालय, लखनऊ

इलाहाबाद
अधीक्षक, राजकीय मुद्रण एवं लेखन-सामग्री, उत्तर प्रदेश (भारत)
१ ९ ७ ०

महाविद्यालय का संक्षिप्त इतिहास



श्री असित कुमार हल्दार

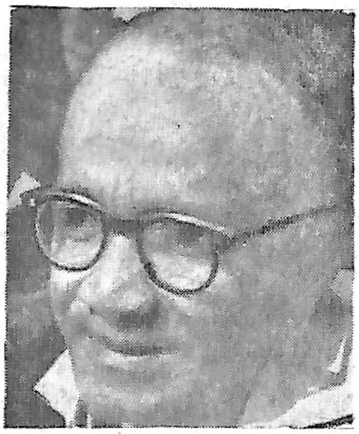


श्री ललित मोहन सेन

कला मनुष्य सौंदर्य के बोध की अभिव्यक्ति है तथा इसी कला का प्रश्रय लेकर क्लान्त और प्रतीड़ित मानव क्षणिक आनन्द एवं शान्ति के लिए प्रयास करता है। सन् १९११ ई० में कला प्रेमियों द्वारा कला की उन्नति के लिए उत्तर प्रदेश में कला विद्यालय की स्थापना लखनऊ में गोमती के पावन तट पर हुई और उस समय से लेकर आज तक यह कला विद्यालय देश के अन्य कला विद्यालयों से होड़ ले रहा है और उत्तरोत्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर है।

इस विद्यालय के प्रथम प्रधानाचार्य श्री नैथिनियल हर्ड थे जिन्होंने पितृवत् इस विद्यालय का पालन–पोषण किया। सन् १९२५ ई० में प्रख्यात कलाकार श्री असित कुमार हल्दार, प्रधानाचार्य होकर आये। आपने इस विद्यालय की शिक्षा पद्धति में भारतीय कला को प्रमुख स्थान देकर विद्यालय में एक नवीन चेतना प्रसारित की। सन् १९४५ में श्री एल० एम० सेन, ए० आर० सी० ए० (लन्दन) जो इसी विद्यालय के छात्र भी थे, प्रधानाचार्य के पद पर नियुक्त हुए। आपकी विद्वता एवं कला कीर्ति विदेशों तक फहराती थी। सन् १९५४ में आप दिवंगत हुए और आपके स्थान पर श्री हरिहर लाल मेंढ़ ने जो इसी विद्यालय के भूतपूर्व छात्र भी थे, प्रधानाचार्य का पद संभाला। १९५६ में विद्यालय की इतिहास पुस्तिका में एक विशेष अध्याय जोड़ने वाले प्रख्यात कलाकार पद्मश्री सुधीर रंजन खास्तगीर इस महाविद्यालय के प्रधानाचार्य नियुक्त हुए। आपके संरक्षण में पाश्चात्य एवं प्राचीन भारतीय कला की परम्परागत

शैली को प्रोत्साहन मिला। अल्पकाल में ही विद्यालय की गतिविधि को नवचेतना मिली तथा विद्यालय तरुणाई की अवस्था पर पहुंचा तथा २० जुलाई सन् १९५६ से यह विद्यालय महाविद्यालय के रूप में परिवर्तित हुआ। सन् १९६३ में पद्मश्री सुधीर रंजन खास्तगीर जी ने अवकाश ग्रहण किया तदुपरान्त हरिहर लाल मेढ़ जी विद्यालय के प्रधानाचार्य नियुक्त हुए।

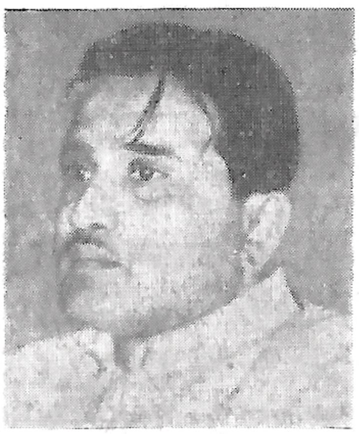


पद्मश्री सुधीर रंजन खास्तगीर

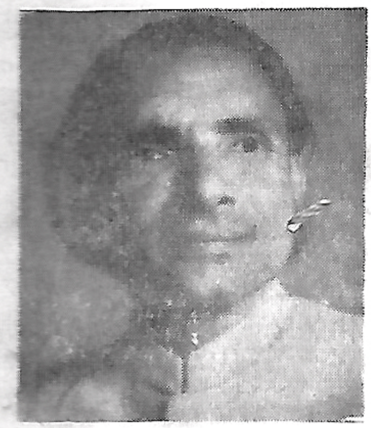


हरिहर लाल मेढ़

जुलाई सन् १९६४ ई० में श्री दिनकर कौशिक इस महाविद्यालय के प्रधानाचार्य नियुक्त हुए। आपके संरक्षण में आधुनिक कला (माडर्न आर्ट) को प्रोत्साहन मिला। आपने अखिल भारतीय टेक्निकल बोर्ड द्वारा प्रमाणित नेशनल डिप्लोमा के पाठ्यक्रम के ढंग पर कला का शिक्षण चालू कराया, जिसकी मान्यता राज्य सरकार द्वारा तत्कालीन प्रधानाचार्य श्री सुखवीर सिंहल के कार्यकाल में हुई, जो २४ जून, १९६७ ई० को इस महाविद्यालय के प्रधानाचार्य



श्री दिनकर कौशिक



श्री सुखबीर सिंहल

नियुक्त हुए। आप इस महाविद्यालय के भूतपूर्व छात्र भी हैं, आप कला भारती, इलाहाबाद के संस्थापक एवं उपकुलपति थे तथा इसी महा-



विद्यालय के ललित कला विभाग में प्राध्यापक के रूप में १३ जुलाई, १९६४ से सेवा कर रहे हैं। आप पाश्चात्य कला के प्रति सहिष्णु भाव रखते हुए भी भारतीय कला की आधुनिक शास्त्रीय शैली के परम उपासक हैं।

प्रो० सुखवीर सिंहल

भारतीय कला की परख

जिस प्रकार पुष्प अपनी सुगन्धि व सौन्दर्य के आधार पर ही न्यूनाधिक आदर पाता आया है उसी प्रकार एक जाति व देश भी अपनी संस्कृति एवं कलाओं की अनुपमता, मौलिकता व श्रेष्ठता के आधार पर ही मस्तिष्क ऊंचा करके सम्मानित होता आया है क्योंकि संस्कृति एक जाति या देश के सम्पूर्ण जीवन का सार या सुगन्ध है इसी कारण से वह अपनी संस्कृति व कलारूपी माला को सजाने में कभी नहीं अघाया वरन् तन-मन-धन से उसकी सेवा करता रहा है और मानव विकास में योग देता रहा है। मानव जीवन की भांति ही, मानव जीवन के सार 'संस्कृति' को भी भौतिक, बौद्धिक एवम् भावनात्मक व आध्यात्मिक आदि तीन पहलुओं से आंकना अधिक युक्तिसंगत होगा। कलाओं विशेषत: ललित कलाओं को भावनात्मक व आध्यात्मिक पहलू के अन्तर्गत रखना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि जहां मानव के अन्य कार्यकलाप भौतिक या बौद्धिक विकास से अधिक संबंधित हैं कला का क्षेत्र ही ऐसा है जहां मानव अपनी शारीरिक या भौतिक आवश्यकताओं व बौद्धिक समस्याओं से परे भावनात्मक व आध्यात्मिक तथ्यों में विचरण करने का आनन्द लेता है, अपने मन व आत्मा के सम्पर्क द्वारा अपने आपको व्यक्त करने का प्रयास करता है, अपनी सोई हुई प्रवृत्तियों को जाग्रत करता है और उन्हें समस्त मानवमात्र के समक्ष निरपेक्ष भाव से प्रस्तुत करता है। कोई भी एक जाति विशेष अपनी भौगोलिक स्थिति व वातावरण से प्रभावित कर्मों, बौद्धिक विकास पर आधारित विचार धाराओं, भावनात्मक व आध्यात्मिक परिज्ञान और तदनुसार स्पष्ट अभिव्यक्ति के आधार पर ही अपनी कलात्मक प्रवृत्तियों की नींव डालती चली आ रही है और उस

नींव के आधार पर ही एक जीवित जाति या देश विशेष, एक अपनी ही कला शैली के भवन का निर्माण करता आ रहा है और करता रहेगा। भावनात्मक रूप से मृत जाति व देश दूसरों का मुंह ताकते रहते हैं और दूसरों की नकल करने में ही अपनी सुरक्षा मानते आये हैं। शैली के अन्तर्गत सामूहिक रूप से माध्यम (मीडियम), आधारतल (सरफेस) अन्य आवश्यक सामग्रियां, अभिव्यक्तिकरण का ढंग, विचारधारा व दृष्टिकोण आदि सभी तत्व सम्मिलित हैं। इनमें से किसी एक का एकांगी रूप नहीं वरन् इनका सामूहिक रूप ही शैली कहलाता है जिनके आधार पर ही कला की परख करना उचित है जैसे वस्त्र की परख सभी ऋतुओं पर, भोजन की कसौटी समस्त शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति पर तथा शिक्षा की श्रेष्ठता सभी प्रकार के बौद्धिक विकास पर निर्भर है उसी प्रकार कला की सच्ची परख भी मानव की शारीरिक, बौद्धिक तथा भावनात्मक व आध्यात्मिक विकास के सन्तुलित अभिव्यक्तिकरण पर ही निर्भर है। यही कारण है कि कला की परख विभिन्न दृष्टिकोणों के बजाय एकांगी ढंग से आंकने के कारण कलाविशेषज्ञों ने एक समस्या सी बना दी है। कला को किसी विशेष संकीर्ण दृष्टिकोण द्वारा परखना नितान्त भूल है। मानव भावनायें समान होने पर भी उनके अभिव्यक्तिकरण की शैली समान होना अनिवार्य नहीं है वांछ-नीय भले ही हो सकती है। आत्मिक दृष्टि से तो मानव की आन्तरिक भावनायें समान हैं परन्तु यह शरीर व बुद्धि उनमें भिन्नता उत्पन्न करने में लगी रहती हैं। इसी कारण अपनी शारीरिक आवश्यकताओं व बौद्धिक प्रखरता के बल पर ही मानव विभिन्न शैलियों का निर्माण करता रहा है। अत: उचित यही है कि कला शैलियों को आन्तरिक एवं वाह्य दोनों रूपों या स्तरों पर आंका जाय। इतिहास साक्षी है कि मानव आन्तरिक समानता होने पर भी वाह्य असमानता की खोज में प्रयत्नशील रहा है जब तक कि उसे पूर्ण आत्मज्ञान न हो गया हो क्योंकि उसे देश व काल से प्रभावित विभिन्न परिस्थितियां विभिन्न ढंग अपनाने के लिये वाध्य करती रही हैं जिसके फलस्वरूप ही विभिन्न शैलियों का जन्म उन मानव प्रवृत्तियों की असमानता का द्योतक है। जिस मानव समाज, जाति व देश में इन कलाकृतियों के पीछे सुदृढ़ व विवेचनात्मक सिद्धांतों का प्रतिपादन होता है वही उन्नत समझा जाता है।

आइये, भारत व भारतीय कला के विषय में कुछ विचार विनिमय करें और अध्ययन करें कि इसमें कौन से ऐसे तत्व हैं जिनके आधार पर और जिनके अपनाने पर इसकी गणना श्रेष्ठतम कला शैलियों में हो सकती है।

बहुत से देशों की भांति भारतवर्ष में भी पांच ललित कलायें मानी गईं हैं। वे हैं काव्य या साहित्य, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला एवं वास्तुकला। प्रश्न उठता है कि विभिन्न शैलियों के साथ-साथ इतनी ललित कलाओं की क्या आवश्यकता। वास्तव में अकेली एक ललित कला अपने स्वयं के कुछ सीमित साधनों व बन्धनों के फलस्वरूप मानव के विस्तृत आन्तरिक मनोभावों को पूर्ण-रूप से व्यक्त करने में असमर्थ रहती है। चाहे वह दूसरी ललित कलाओं की अपेक्षा कुछ सीमा तक व अर्थों में तुलनात्मक दृष्टि से अधिक सूक्ष्मता से अभिव्यक्त भी कर सके। काव्य साहित्यकारों की दृष्टि में तो सर्वश्रेष्ठ व सूक्ष्म कही जा सकती है, परन्तु वह संगीत के नाद व मधुरध्वनि और चित्रकला के रूप व रंगों के धर्म का निर्वाह करने में असमर्थ है क्योंकि जिस भाव व दृश्य को दर्शाने में कविता को बहुत से शब्दों की आवश्यकता प्रतीत होती है चित्रकला उसे बड़ी सरलता व सफलता से व्यक्त कर देती है। संगीत नाद व मधुर ध्वनि से भरपूर है परन्तु रूप व रंग से वंचित रहने के कारण व्यक्तिकरण अधूरा सा रह जाता है। चित्रकला में रूप और रंग का नृत्य अवश्य होता है परन्तु संगीत की स्वरध्वनि व काव्यरचना के माधुर्य के सामने वह मूक कला बन जाती है। मूर्तिकला में रूप प्रचुर मात्रा में होने पर भी काव्यगति, ध्वनि एवं रंग का अभाव अखरता रहता है। वास्तुकला, इसमें सन्देह नहीं, संगीत, कविता, चित्रकला एवं मूर्तिकला के प्रचार में अपनी शक्ति-अनुकूल प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहायता तो करती है परन्तु स्वयं मानव भावनाओं को पूर्णरूपेण अभिव्यक्त करने में उतनी ही असमर्थ भी है। तात्पर्य यह है कि मानव ने अपनी भावना के अभिव्यक्तिकरण की सहज प्रवृत्ति की पिपासा को बुझाने के हेतु ही एक ललित कला की कमी की पूर्ति के लिये कला के इन दूसरे विभिन्न पांच स्वरूपों को खोज निकाला और इन्हें पांच ललित कलाओं की संज्ञा दी।

इन कलाओं की श्रेष्ठता के निर्णय के विषय में पूर्वीय व पश्चिमी दार्शनिकों व कलामर्मज्ञों ने, जिनमें जर्मनवासी हीगल भी सम्मिलित हैं, अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। जिसके अनुसार इन कलाओं की श्रेष्ठता या पूर्णता का माप-दन्ड उनके भावनात्मक अभिव्यक्तिकरण में सूक्ष्मदर्शिता या असूक्ष्मदर्शिता या असमर्थता तुलनात्मक अनुपात के आधार पर ही निर्णय करना उपयुक्त समझा गया। जड़ व चेतन (मेटर व माइंड) के सिद्धांत के अनुसार कविता की तुलनात्मक सूक्ष्मदर्शिता व समर्थता के कारण श्रेष्ठतम व वास्तुकला को उतना ही असूक्ष्म व

असमर्थ होने के नाते न्यून माना जाना उचित समझा गया क्योंकि जिस कला में चेतन भावना का जितना अधिक और जड़ साधनों का कम से कम प्रयोग होगा उसे उतनी ही शुद्ध, श्रेष्ठतम, उच्चतम व पूर्ण माना जाना उचित है और इसके विपरीत जिस कला में जड़ साधनों का जितना ही अधिक और चेतन भावना का कम प्रयोग है वह उतनी ही न्यून व अपूर्ण मानी गई। सम्भवतः यही कारण है कि एक ललित कला विशेष के कलाकार अपनी-अपनी कला को सूक्ष्मतम, श्रेष्ठतम व पूर्ण सिद्ध करने की होड़ में सदैव से व्यस्त रहे हैं क्योंकि विपरीत गमन के अनेक क्षणों के बावजूद भी प्रगतिशील मानव कलाकार अपनी-अपनी कलाओं में सूक्ष्मता व पूर्णता के चरम लक्ष्य की प्राप्ति में सतत प्रयत्नशील रहा है। यद्यपि यह मानव कलाकार यह भी भलीभांति समझता है कि जैसे ही उसे पूर्णता का आभास व परिज्ञान होता जायगा और तदनुसार अन्त में उसकी प्राप्ति होगी उसे अपने नश्वर भौतिक अस्तित्व से हाथ धोना पड़ेगा क्योंकि वह सूक्ष्मतम, पूर्णतम ब्रह्म में लीन होने की चरम गति को प्राप्त कर लेता है। चित्रकार भी अपने निरन्तर अथक् प्रयत्नों और विभिन्न प्रयोगों द्वारा अपनी ही काव्यभाषा व संगीत कम्पन रूप व रंग के क्षेत्र में भी अपनी इन कमियों या अपूर्णताओं को पूरा करने के हेतु बराबर प्रयास कर रहा है। इसी प्रकार दूसरी ललित कलाओं के कलाकार भी अपनी-अपनी कमियों को अपने-अपने क्षेत्रों में पूरा करने के विभिन्न प्रयासों में किसी भी प्रकार से पीछे नहीं हैं। उन्हें कितनी सफलता प्राप्त होगी यह भविष्य के गर्भ में ही निहित है, परन्तु यह भी ध्यान देने योग्य है कि हमारी भावी पीढ़ियां वर्तमान कलाकारों के भौतिक व मानसिक परिश्रम एवं तपस्या के फलों का आनन्द लेने के लिये प्रतीक्षा कर रही होंगी इस कारण इसमें ढील-ढाल से काम करने की बिलकुल गुंजाइश नहीं है।

कला के ऐतिहासिक पक्ष को न लेते हुए हमारे लिये आवश्यक है उन सिद्धान्तों को खोज निकालना, जिनके सहारे से कला में भी वह महानता, श्रेष्ठता व पूर्णता लाने का प्रयास किया जा सके, जिनके कारण ईश्वर सर्वोच्च कलाकार व निर्माता माना जाता है। ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति मानव है। परन्तु मानव ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट कृति और चेतना की चरम स्थिति में होने पर भी आत्मा के चोले मात्र इस नश्वर भौतिक शरीर के प्रसादस्वरूप उसे बहुत सी कमियों व बन्धनों से भी प्रभावित होना पड़ता है क्योंकि जड़ वस्तु

में पूर्णता एवं सूक्ष्मता का नितान्त अभाव है। जैसे-जैसे मानव को चेतनात्मा का ज्ञान या साक्षात्कार होता जाता है और जड़वत् शरीर व जगत को मिथ्या स्वप्नवत् व निस्सार समझता जाता है वैसे-वैसे वह शारीरिक अस्तित्व से दूर और आत्मा के समीप आता जाता है और अन्त में उसी में लीन हो जाने पर उसके पास व्यक्त करने के लिये ही कुछ शेष नहीं रह पाता अर्थात् साधन होने पर भी सर्वोच्चगति प्राप्त कर लेने पर साधक की कोई साध ही नहीं रह जाती, जिस प्रकार किसी वाद्ययन्त्र की दो तंत्री बिल्कुल समान कम्पनों के साथ एक सुर में मिलाई जाती हैं तो टूट जाती हैं और एक दूसरे में पूर्णरूप से समानता के कारण अपने नाश व विलीनता को आमन्त्रित करती हैं। यद्यपि जब तक वे पूर्णरूप से नहीं वरन् काफी सीमा तक भी मिले रहते हैं सुरक्षित रहते हैं। यही बात हमारे जीवन तथा उसकी अभिव्यक्ति कला के विषय में भी लागू है। मानव अपने वर्तमान नश्वर देह या रूप के साथ पूर्णता प्राप्ति की ओर अपने अथक् प्रयत्नों का सम्बल लेकर निरन्तर अग्रसर है, परन्तु उसी सीमा तक जहां तक कि वह अपने अहम को पूर्णरूप से अर्पित नहीं कर देता और मोक्ष या निर्वाण प्राप्त नहीं कर पाता। इस परमगति को प्राप्त करने के बहुत से सिद्धांतों की शिक्षा व दीक्षा कालान्तर से हमारे ऋषि-मुनि देते आये हैं, चाहे वे किसी भी धर्म को मानने व प्रचार करने वाले क्यों न रहे हों। उनकी इतनी बहुमूल्य भौतिक, बौद्धिक व आध्यात्मिक देन के प्रति कृतज्ञ होने के बावजूद भी मानव अपनी कल्पना शक्ति को अपने ही ढंग से सन्तुलित एवं स्वस्थ साधनों द्वारा अपने ही शारीरिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक कार्यकलापों को संचालित करने के हेतु, अपने व्यक्तित्व और उसकी शक्ति को परिमार्जित करने और यथावत् प्रयोग करने के उत्तरदायित्व की बागडोर को अपने हाथों से नहीं छोड़ सका।

आयुर्वेदिक एवं यूनानी चिकित्सा पद्धति के अनुसार बात, पित्त, कफ आदि तीन नाड़ियों के सन्तुलन पर शरीर का स्वास्थ्य निर्भर है, इनके संचालन में लेशमात्र भी अनियमितता स्वास्थ्य में गड़बड़ी पैदा कर देती है। जितना भी संभव हो सके इनमें फिर से उपयुक्त सन्तुलन लाने के हेतु चतुर चिकित्सक उचित रास्तों व साधनों का उपचार बताते हैं। ठीक इसी प्रकार कलाकृतियों के गुणों व दोषों को परखने के लिये भी तीन कुंजियां हैं अर्थात् तीन नाड़ियां हैं, जिनकी सहायता से किसी भी कलाकृति की श्रेष्ठता व न्यूनता रूपी स्वास्थ्य का ठीक ज्ञान हो सकता है।

ललित कलाओं के क्षेत्र में ये तीन नाड़ियां या कुंजियां सत्यं, शिवं और सुन्दरम् हैं जो क्रमशः आत्मा, बुद्धि व कर्मेन्द्रियों से संबंधित हैं। सत्यं आत्मा द्वारा निर्देशित होता है, शिवं का पोषण बुद्धि ज्ञान द्वारा होता है, सुन्दरम् का आभास मुख्यतः इंद्रियों द्वारा होता है। सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के ठीक ज्ञान के लिये आत्मा, बुद्धि व इंद्रियों के धर्मों को ठीक समझना भी परमावश्यक है।

सर्वश्रेष्ठ व पूर्ण कलाकार के रूप में ईश्वर को सच्चिदानन्द (सत्-चित्-आनन्द) भी कहते हैं। सत् यदि आत्मा का मूलरूप है तो चित्त बुद्धि व मन का ज्ञानरूपी तना है और आनन्द इंद्रियों का उल्लासरूपी खिला पुष्प व पत्ती है, परन्तु सत्य का ज्ञान व अभिव्यक्ति भी केवल आत्मा द्वारा ही नहीं होती, जब तक कि बुद्धि कुछ उचित नियमों की रचना व उद्बोधन न करे और इंद्रियां अपने सत्रिय सहयोग व उपयोग द्वारा उन्हें व्यक्तिविशेष की शक्ति व धारणा के अनुकूल ही कलाविशेष को स्थिति एवं कालानुकूल सफलतापूर्वक व्यक्त न करे। चित्त का आभास हमें बुद्धि द्वारा भी होता है, परन्तु आत्मा द्वारा इसकी अच्छी तरह छानबीन किये बिना और इंद्रियों द्वारा उचित प्रयोग व अनुमोदन के बिना भी यह संभव नहीं। आनन्द साधारणतः इंद्रियों द्वारा अनुभव किया जाता है, परन्तु जब बुद्धि भी पूर्णरूप से सन्तुष्ट न हो और आत्मा द्वारा प्रभावित न हो, क्षणिक व गौण है, इससे अविश्वसनीय ही रहता है। इसका तात्पर्य यही है कि जीवन अथवा कला दोनों की पूर्णता के लिये इन तीनों का सन्तुलित व नियमित उपयोग परमावश्यक है। ईश्वर या ब्रह्म सत्यस्वरूप है, समदर्शी है, जिसकी उपमा विश्व पृष्ठ की एक ओर को श्वेतरंग या उज्ज्वल कान्तिमय अलंकरण से दी जा सकती है तथा उसकी दूसरी ओर माया है, जिसकी उपमा काले रंग या गहरे या पेचीदे अलंकरण से दी जाती है। ईश्वर एक ओर चेतन पुरुष है, जिसका धर्म ध्यान व ज्ञान है तथा उसके दूसरी ओर प्रकृति है जो उसकी शक्ति व गुण या विशेषण है। ईश्वर पृष्ठ के एक ओर आनन्द है तथा उसकी दूसरी ओर उसके माध्यम के रूप में ललित कला है। इस प्रकार ये तीनों गुण का समन्वय रूप ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप में व्याप्त है। ईश्वर सत्यस्वरूप है तथा मानव ब्रह्म में लीन होने से पूर्व मायावत् है यद्यपि वह ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कलाकृति अवश्य है। ईश्वर चैतन्य पुरुष है तथा मानव उसी का विशेषण या गुणमात्र प्रकृति है। ईश्वर आनन्दस्वरूप है तो मानव उस ब्रह्म की लीला का स्वयं अपने को माध्यम या मापदन्ड मानकर अभिव्यक्तिकरण करने वाला कलाकार है। सत्

स्वभावतः सत्य से सम्पर्क रखता है। चैतन्य पुरुष से वौद्धिक द्वारा दृष्टि शिवं का बोध होता है क्योंकि चिंतन व सोचना इसका धर्म है और प्रकृति इसकी सहधर्मिणी है जो कि शिवं है और इसका दान किसी बदले की दृष्टि से नहीं होता व यदि कुछ प्राप्त या ग्रहण करती भी है तो स्वभावतः कुछ काल बाद देने के अभिप्राय से आनन्द का श्रोत सुन्दरम् है क्योंकि सौन्दर्यानुभूति आनन्द का श्रोत है। कला जगत में साधारणतः असत्यं, अशिवं, असुन्दरं का कहीं स्थान नहीं, क्योंकि मायावत् असत्यं, क्रूर अशिवं एवं कुरूप असुन्दरं का परदा जीवन से हटाना ही कला का मूल लक्ष्य है, जिससे सत्यं,शिवं सुन्दरम् के साक्षात दर्शन हो सके। उनकी प्राप्ति के हेतु मानव को निरन्तर प्रयत्नशील रहकर साधना करना आवश्यक है क्योंकि कहा गया है "जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ" और यह भी माना गया है कि इनकी पूर्णरूपेण (कुछ अंशों में नहीं) प्राप्ति से भी मानव न मानव रहता है न कलाकार, ब्रह्म में लय होने के कारण उच्चगति प्राप्त कर लेता है। प्लेटों के प्रत्यय के सिद्धान्त के बावजूद भी अपने मानवी धर्म के पालन हेतु मानव इनकी प्राप्ति की ओर अग्रसर है। मानव यदि जिज्ञासु है तो वह अपनी शारीरिक व मानसिक तपस्या या बलिदान तक के बल से अपने मार्ग में आने वाले मायावी बन्धनों से छुटकारा पाने के लिये उद्यत रहता है। इस कारण ही मानव अपनी कमियों व दोषों पर विजय पाने का उद्देश्य सम्मुख रखते हुए काला-श्वेत, सत्य-असत्य, बुराई-भलाई रूप-कुरूप आदि द्वन्द्वों की दुनिया में विचरता है और वास्तव में यह द्वन्द्व ही जीवन व कला में पूर्णता के चरम लक्ष्य को पाने में सदैव बाधक भी है। आवश्यकता इस बात की है कि सत्यं, शिवं, सुन्दरम् आदि त्रिगुणों के आपसी संबंध विशेषतः जीवन व कला के विषय में स्पष्टतया व पूर्णरूपेण समझने का प्रयास लगातार जारी रहना चाहिए।

सत्य सदैव वह नहीं होता जो हम कहते हैं, सुनते हैं, देखते हैं या सोचते तक भी हैं अर्थात् जिसे हम अपनी विभिन्न इन्द्रियों एवं मस्तिष्क व बुद्धि द्वारा ग्रहण करते हैं इसके विपरीत सत्य वह है जिसे हम अन्तरात्मा द्वारा अनुभव करते हैं। उदाहरणस्वरूप यदि कोई किसी को मित्र कह कर पुकारता है और वाह्य रूप में जताने का भी ढोंग रचता है, परन्तु आन्तरिक रूप में उसके प्रति छिपे हुए शत्रु के भाव हैं तो सच्चा कलाकार उसका सत्य नग्नरूप ही व्यक्त करेगा, इन्द्रियों के पर्दे में छिपा मायावत् सत्य कदापि व्यक्त न करेगा। महान्

कलाकृति तथा कलाकार की आन्तरिक भावनाओं में समरूपता होती है, क्योंकि कला आत्मा व चेतन का सरल संतुलित व आदर्श प्रतिबिम्ब या छाया है। वान आफ की महानता उसके तेकनिक के कारण नहीं थी, वरन् उसकी अग्नि-शिखा समान ब्रश गांग स्ट्रोक द्वारा प्रदर्शित उसकी आन्तरिक भावाग्नि के अभिव्यक्तिकरण पर आधारित थी क्योंकि तेकनिक का प्रयोग भावना के अनुकूल होता है या होना आवश्यक है स्वयं में तेकनिक कला नहीं। परन्तु कला की परख की कठिनाई से भावना के सत्यासत्य की परख भी कम कठिन नहीं।

सत्य कला में सत्यभावना का सत्य व सहज अभिव्यक्तिकरण भी स्वाभाविक है और इसके लिये किसी प्रकार के विशेष प्रयोग व स्पष्टीकरण व विज्ञप्ति की भी आवश्यकता नहीं क्योंकि अपने आत्म-विश्वास पर आधारित आन्तरिक व वाह्य भावनाओं की समरूपता के पश्चात् उनके अभिव्यक्तिकरण को रोकना भी सरल काम नहीं है। ये तूफ़ान की तरह हृदयतल पर आती हैं और किसी न किसी रूप में व्यक्त होकर रहती हैं। इन्हें छिपाने वाले उसे बना हुआ मायावी रूप देकर कुछ काल तक तो अपने को और दूसरे को धोखा दे पाते हैं या देने का दुस्साहस करते हैं, परन्तु एक न एक दिन उसकी कलई अवश्य खुल जाती है, विशेषतः कला के क्षेत्र में, क्योंकि झूठी अभिव्यक्ति का दूसरों के मन पर झूठा ही प्रभाव पड़ेगा चाहे वह बुद्धि को कुछ सीमा तक प्रभावित कर भी सके। स्पष्ट है कि माता का स्वच्छ प्रेम और विमाता का बनावटी प्रेम भावुक बालक को कुछ दिनों तक तो धोखा देता रहता है परन्तु अन्त में छिपा नहीं रहता। चाहे उस प्रेम को विमाता कितना भी फूक–फूक कर प्रयोग करे। आन्तरिक स्वच्छ निर्मल प्रेम के अभाव के कारण कोई बौद्धिक युक्ति भी अधिक सहायक नहीं होती।

सच्चा कलाकार वैसे तो साधारणतः सत्य के रास्ते में किसी प्रकार का समझौता सहन नहीं करता, परन्तु मानवमात्र की सेवा व भलाई या शिवं के विचार से कुछ ही सीमा तक झुक सकता है वह केवल इस कारण से कि वह एक सामाजिक प्राणी है, जो दूसरों के हित की सोचता है और दूसरों से हित की कभी-कभी आशा भी करता है। ऐसा मानव, जो सेवाभाव से कर्मयोगी है व बुद्धि द्वारा सोचने की शक्ति भी रखता है और ज्ञानी व जिज्ञासु है, राजनैतिक नेता, धार्मिक नेता या सृजनप्रेमी भावुक कलाकार आदि जीव होते हैं। वह ऐसा

मानव, जो दूसरों का क्रियात्मक व भावात्मक अनुकरण ही अपना धर्म समझता है, जिसके कारण वह अपने दोषों से लड़ने में असमर्थ होने के नाते कायर है, अधीन रहने में ही अपने को धन्य समझता है और कलाकार बनने योग्य नहीं होता। 'जैसी करनी वैसी भरनी' वाली कहावत के अनुकूल सत्यं एवं शिवं की पवित्र भावना के आधार पर ही कलाकार शिवं कला का सृजन कर सकता है। शिवं को केवल भलाई जानकर अपने स्वार्थवश या भविष्य में लाभार्थ भलाई करना हीन होने के साथ निरर्थक, क्षणिक व अन्त में दुखद है। इसके विपरीत हर दृष्टि से निष्काम व निर्लेप भलाई केवल कर्मकर्त्ता ही का महत्व नहीं बढ़ाती वरन् कर्म व । भी अर्थात् कलाकार व कला दोनों का आदर व महत्व बढ़ाती है।

विश्व के सर्वमुखी व्यवहार में, जिसका मानव केन्द्र है, सत्यं व शिवं जीवन व कला के दो पहलू की भांति सुन्दरं (सौन्दर्य) के बिना पूर्ण नहीं हो पाता। सुन्दरं मानव चेतना पर आनन्द की वर्षा करता है क्योंकि दोनों का चरमलक्ष्य उसी अनन्त ब्रह्म में निहित है और दोनों ही सच्चिदानन्द की प्राप्ति के माध्यम हैं, जिसकी कृपा व आशीर्वाद के फलस्वरूप ही मानव आनन्दानुभव करता है और अपनी अभिव्यक्तिकरण की प्यास को बुझाने के हेतु ललित कलाओं का अन्वेषण करके सौन्दर्य की पूजा करता है क्योंकि मानव अपने इष्टमित्र से अपने नवीन अनुभव व अनुभूतियों पर आधारित अपनी भावनाओं को पूर्णरूप से सरलतापूर्वक अभिव्यक्त करके ही अपने को पवित्र, शान्त, महान् या उन्नत अनुभव करता है मानो उसने बहुत बड़ा या पावन कर्म सम्पादन किया हो। इस अभिव्यक्तिकरण के आनन्द का दूसरा उदाहरण आनन्द व प्रसन्नता के वे आंसू हैं जो अपने इकलौते बिछुड़े हुए पुत्र को बहुत काल बाद देखने पर प्रसन्न मां के गालों पर बहते हैं क्योंकि वह अपने भाव को व्यक्त किये बिना नहीं रह सकती है। व्यक्तिकरण के ऐसे ही न रुकने वाले प्रबल आवेग से ही ललित कलाओं के सूत्रपात मुख्य व एकमात्र कारण हैं। ललित कलायें यदि सत्यं, शिवं, सुन्दरं के आधार पर न परखी जायें तो समाज के टूटे तन्तुओं का सृजन करने के बजाय पवित्र, शुद्ध भावनाओं को विसर्जन करने में भी सहायक होती हैं।

मानव कलाकृतियों में गुणात्मक अन्तर की सम्भावना को देखते हुए यह प्रतीत होता है कि अपनी प्रकृति व भावना से प्रभावित गुणों के कारण मानव का सामाजिक प्राणी व व्यक्तिगतरूप एक–दूसरे से भिन्न है। ईश्वर की महान् कृति प्रकृति की भांति, जो स्वयं त्रिगुणात्मक है, ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति मानव

को कलाकृति को भी त्रिगुणात्मक होना स्वाभाविक है। सत्यं, शिवं, सुन्दरं के अनुपातीय आधार पर तीन गुण सात्विक, राजसिक एवं तामसिक भी काम करते हैं, जिसके कारण ही कलाकृतियों में सत्यं, शिवं, सुन्दरं द्वारा मानवीय प्रभाव और उसके सत्, रजस्, तमस् आदि तीन गुणों में समन्वय भी रहता है।

सात्विक गुण में सत्यं का अधिक प्रभाव व समावेश रहता है, शिवं व सुन्दरं कुछ कम मात्रा में प्रभावित कर पाते हैं।

राजसिक गुण में शिवं का अधिक व्यापार होता है और सत्यं, सुन्दरं का प्रभाव होने पर भी कुछ मात्रा में कम प्रतीत होता है।

तामसिक गुण में सुन्दरं का प्रदर्शन अधिक होता रहता है, परन्तु सत्यं, शिवं का उचित प्रभाव होने पर भी तुलनात्मक दृष्टि से कुछ कम मात्रा में दिखाई पड़ता है।

पूर्व कथनानुसार सत्यं, शिवं, सुन्दरं आदि के सन्तुलन से तीनों गुण—सत्, रज, तम में भी स्वतः सन्तुलन आ जाता है और तीनों गुणों का सन्तुलित समावेश मानव कलाकृति में भी स्वभाविक है। इस प्रकार मानव कलाकृति के गुण व दोषों की परख भी इन तीनों गुणों के तुलनात्मक प्रभाव पर ही निर्भर है। सारांश में ईश्वर के सत्, चित्त, आनन्द आदि स्वरूपों का साक्षात् सम्बन्ध आत्मा, बुद्धि व इन्द्रियों से प्रभावित होने के आधार पर क्रमशः सत्यं, शिवं, सुन्दरं से है और सत्यं, शिवं, सुन्दरं का अनुपातीय समावेश इन सत्, रज, तम आदि तीन गुणों की परख का निर्णय कर पाता है अर्थात् यदि किसी कलाकृति में सत्यं का प्रभाव अधिक है, परन्तु शिवं, सुन्दरं का प्रभाव तुलनात्मक दृष्टि से कुछ कम है तो वह सतोगुण प्रधान कलाकृति होती है। जिसमें शिवं का अधिक प्रभाव है, परन्तु सत्यं व सुन्दरं का प्रभाव कुछ न्यून है तो वह कलाकृति रजोगुण प्रधान होती है। जिसमें सुन्दरं की जो कला का मुख्य अंग होने पर भी, प्रधानता रहने के कारण सन्तुलित रूप में प्रभावित नहीं करता है और सत्यं व शिवं का भी उचित आश्रय नहीं लेता है वह कलाकृति तमोगुणप्रधान होती है, परन्तु जिस कलाकृति में सत्यं, शिवं व सुन्दरं आदि किसी भी एक अंग का अभाव रहता है तो मूलरूप से तो वह कलाकृति ही नहीं कहलाई जानी चाहिए।